

## भारतीय उपन्यास की भारतीयता

मैनेजर पाण्डे

भारत में उपन्यास का जन्म अभिशप्त स्थितियों में हुआ। उस अभिशाप की छाया भारतीय उपन्यास पर लंबे समय तक पड़ती रही। उससे मुक्ति के लिए उपन्यास विधा को कठिन संघर्ष करना पड़ा। भारत में उपन्यास का जन्म उन्नीसवीं सदी के मध्य में तब हुआ जब देश में अंग्रेजी राज था। उपनिवेशवाद के कारण भारतीय समाज के यथार्थ और भारतीय जनता की चेतना में ऐसे अंतर्विरोध थे, जो उपन्यास के स्वाभाविक विकास में बाधक थे। यूरोप में उपन्यास का उदय जिन स्थितियों में हुआ था, उनके ठीक विपरीत परिस्थितियाँ यहां मौजूद थीं। भारत में न तो औद्योगिकीकरण हुआ और न ही मध्यवर्ग विकसित हुआ था। यहाँ जो नाम मात्र का औद्योगिकीकरण हो रहा था, वह भारतीय समाज के स्वाभाविक विकास का परिणाम न था। वह साम्राज्यवाद की लूट के लिए फँसे व्यापार और बाजार का एक हिस्सा था। उपनिवेशवाद ने भारतीय सामंतवाद के मूल ढाँचे को बनाए रखा और उसके साथ एक नए किस्म का सामंतवाद भारतीय समाज पर थोप दिया। इसलिए यहां के औद्योगिकीकरण में स्वाभाविक रूप से विकसित पूंजीवाद की कोई विशेषता न थी। यूरोप में जो मध्यवर्ग उपन्यास के विकास का आधार बना था, वह यहां लगभग गायब था। उपनिवेशवादी व्यवस्था में यहां जो मध्यवर्ग पैदा हुआ था उसका चरित्र यूरोप के मध्यवर्ग से बहुत भिन्न था। डी. पी. मुखर्जी ने इस भारतीय मध्यवर्ग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “उपनिवेशवादी व्यवस्था के कारण यहां एक ओर सुख-सुविधा और फुर्सत की जिंदगी जीने वाले जमींदारों का एक नया वर्ग सामने आया और दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा में पला-बढ़ा वह समुदाय विकसित हुआ, जो भारतीय समाज से लगभग विच्छिन्न और अंग्रेजी राज का समर्थक था। इन्हीं दोनों के मेल से उस समय का भारतीय मध्यवर्ग बना था, जो न पश्चिम के बुर्जुआ वर्ग जैसा था और न पुराने भारतीय व्यापारी वर्ग की तरह। यह मध्यवर्ग अपनी जड़ों से कटा हुआ

आधारहीन वर्ग था। इनमें से पश्चिमी शिक्षा में पला-बढ़ा समुदाय पश्चिमी संस्कृति के आयात का माध्यम बना।<sup>1</sup> कहने की जरूरत नहीं है कि इस मध्यवर्ग में पश्चिम के बुर्जुआ वर्ग की तरह न स्वतंत्रता की भावना थी और न लोकतंत्र की चेतना।

ऐसे मध्यवर्ग का सबसे पहले विकास बंगाल में हुआ था। उस मध्यवर्ग की मानसिकता की प्रामाणिक अभिव्यक्ति माइकेल मधुसूधन दत्त के एक नाटक में हुई है। नाटक का नाम है 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?' उस नाटक के एक दृश्य में एक मध्यवर्गीय स्त्री अपने शराबी और अवारा पति को फटकारते हुए कहती है, "ऐसा लगता है कि आजकल कलकत्ता में ज्ञान के नाम पर अधिकांश पढ़े-लिखे लोग शराब पीना और रंडीबाजी करना सीख रहे हैं। और ये बेशर्म पढ़े-लिखे लोग कहते हैं कि वे अंग्रेजों की तरह सभ्य हो रहे हैं। क्या सभ्य होने का यही ढंग है? इसी को तुम सभ्यता कहते हो?" ऐसे ही लोगों ने अपनी बैठकबाजी के लिए एक संगठन बनाया है, जिसका नाम है 'ज्ञान तरंगिणी सभा'। इस संगठन की बैठकों में आने वाले लोग शराब पीते हैं, गप्प हांकते हैं और मौजमस्ती करते हैं। एक शाम की बैठक में नाटक का नायक कहता है, "मित्रों, यह देश हमारे लिए एक विशाल कारागार है। केवल यह क्लब ही हमारी स्वतंत्रता का घर है, स्वाधीनता का महल है। आप यहां जो चाहें कर सकते हैं।" इसके बाद वह अपने मित्रों को शराब पीने और नाचने के लिए आमंत्रित करता हुआ कहता है, "आइए अब हम स्वतंत्रता के नाम पर मौज-मस्ती में डूब जाएं।"

इस पूरे प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए रणजीत गुहा ने लिखा है कि "यहां जिस कारागार का उल्लेख है, वह साम्राज्यवाद की गुलामी नहीं है। वह हिंदू धर्म की रूढ़िवादिता है। यहां स्वतंत्रता और स्वाधीनता आदि का लक्ष्य उपनिवेशवादी सत्ता से मुक्ति नहीं है, हिंदू समाज की पुरानी मूल्य व्यवस्था की रूढ़ियों से छुटकारा है। इससे जाहिर होता है कि पश्चिम में जिन विचारों और नारों ने जनतांत्रिक चेतना जगाने का काम किया था, वही भारत में उपनिवेशवादी

शिक्षा के परिणामस्वरूप गुलामी की मानसिकता पैदा करने के काम आए।<sup>22</sup> भारत में यही मध्यवर्ग आरंभिक दिनों में उपन्यास के लेखक और पाठक के रूप में उसके उदय का आधार बना। बंगाल में ऐसा मध्यवर्ग पहले विकसित हुआ था, इसलिए वहां उपन्यास का विकास भी दूसरी भारतीय भाषाओं से पहले हुआ। बंगला में पहले-पहल उपन्यास के विकास का एक कारण यह भी था कि वहां पत्र-पत्रिकाओं का विकास भारत की दूसरी भाषाओं से पहले हुआ। आमतौर पर यह माना जाता है कि प्यारेचंद मित्र का 'अलालेर घरेर दुलाल' पहला भारतीय उपन्यास है। यह पहले 1854 से प्रकाशित होने वाले 'मासिक पत्र' में धारावाहिक छपा और 1858 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

जैसा मध्यवर्ग बंगाल में पैदा हुआ था, वैसा भारत के दूसरे भागों में भी विकसित हो रहा था। इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने 1902 के 'कादम्बरी' शीर्षक निबंध में मराठी के आरंभिक उपन्यासों के पाठकों के बारे में लिखा है कि 'इनके पाठक वर्ग में मुख्यतः जमींदारों, रियासतदारों और ईनामदारों की संख्या अधिक थी। कभी-कभी ब्राह्मणों, उपाध्यायों और वैश्यों ने भी इनमें अपना योगदान दिया है। लेकिन इन उपन्यासों के मुख्य लक्ष्य ऐशो-आरामी, खुशालचन्द और निष्क्रिय लोग ही थे। वेदविद् लक्ष्मणशास्त्री हल्वे को उपन्यासों के खातिर खंडेराव होल्कर से सालाना तनखाह मिलती थी। इससे स्पष्ट है कि बंगला ही नहीं, मराठी में भी उपन्यास के लेखक और पाठक किस तरह के लोग थे। इससे यह भी अंदाजा लग सकता है कि आरंभिक दिनों में जासूसी और ऐय्यारी के अद्भुत और विचित्र वृतांत वाले उपन्यासों की भरमार क्यों थी। भारत में जिस मध्यवर्ग का विकास हुआ था उसकी मूल्य-चेतना दुविधाग्रस्त थी। उसमें एक ओर परंपरा बनाम आधुनिकता का द्वंद्व था तो दूसरी ओर आधुनिकता के नाम पर भ्रामक आधुनिकता की ओर झुकाव भी था। संभवतः यही कारण है कि आरंभिक उपन्यासों में कहीं भारतीय और पश्चिमी मूल्यों का द्वंद्व मिलता है तो कहीं सतही आधुनिकता के नाम पर पश्चिमी मूल्यों की नकल मिलती है। शायद इसीलिए उपन्यासों को उस समय चरित्र बिगाड़ने वाला माना जाता था। फिर भी लोग चोरी-छिपे उपन्यास को पढ़ते ही थे।"

भारत में उपन्यास विधा के अभिशप्त होने का एक और कारण यह भी था कि यद्यपि भारतीय साहित्य में कथा और आख्यायिका के विभिन्न रूपों की परंपराएं थीं, लेकिन उपन्यास की कोई परंपरा न थी। इसलिए पश्चिम से उपन्यास का जो रूप अंग्रेजी के माध्यम से सामने आया, वही यहां उपन्यास रचना का आदर्श बन गया। उस समय पश्चिम का मतलब था इंग्लैंड और यूरोपीय उपन्यास के नाम पर केवल अंग्रेजी उपन्यास तक ही अधिकांश भारतीय लेखकों और पाठकों की पहुंच थी। यह भी उपनिवेशवाद के अभिशाप का ही एक पक्ष था कि भारत में यूरोप का वही साहित्य मिलता था जो अंग्रेजी में उपलब्ध होता था। अंग्रेजी का घटिया साहित्य भी शासकों का साहित्य होने के कारण भारतीय मध्यवर्ग के लिए श्रेष्ठ और आदर्श होता था। उस समय भारत की विभिन्न भाषाओं में अंग्रेजी के रहस्य-रोमांस, जासूसी और सतही यथार्थवाद के उपन्यासों के अनुवादों की भरमार थी। ये अनुवाद कभी सीधे अंग्रेजी से होते थे और कभी दूसरी भारतीय भाषाओं में अनुवाद के अनुवाद होते थे और कभी-कभी तो अनुवादक मूल लेखक का नाम हटाकर स्वयं लेखक बन जाते थे। बंगला, हिंदी, गुजराती और मराठी आदि भाषाओं में जी. डब्ल्यू. एन. रोनाल्ड के 'लंदन रहस्य' के अनुवादों की धूम मची थी। रोनाल्ड उस समय संपूर्ण भारतीय भाषाओं में सर्वाधिक अनुदित और लोक-प्रिय उपन्यासकार थे, जिन्हें अंग्रेजी में न तब किसी ने गंभीर लेखक माना और न आज उन्हें उपन्यासकार के रूप में कोई जानता है। ऐसे उपन्यासों के अनुवाद से नए उपन्यासों की रचना भी प्रभावित हो रही थी, उन्नीसवीं सदी के मराठी उपन्यास लेखन पर अंग्रेजी के घटिया उपन्यासों के प्रभाव की चर्चा करते हुए राजवाड़े ने लिखा है कि- "भारतीय यथार्थवादी उपन्यासों का मूल स्रोत ही विदेशी नहीं है, बल्कि नमूने के तौर पर जिन उपन्यासों को चुना, वे भी वहां के सामान्य स्तर के उपन्यास ही रहे हैं। जिन्हें विदेशों में यथार्थवादी उपन्यासों का मूल स्रोत कहा जा सकता है, ऐसे बेहतरीन उपन्यासों से प्रेरणा पाकर लिखने वाले यहां शायद ही हैं। अंग्रेजी के उपन्यासकारों में हीन स्तर के रोनाल्ड्स के घटिया उपन्यासों का आस्वादन करने वाले माई के लाल अपने यहां अधिक हैं। बहुत हुआ तो कुछ लेखकों ने रोनाल्ड से परे छलांग लगायी और मुश्किल से पहुंचे

के भारतीय उपन्यासकारों की पहुंच न तो अंग्रेजी के फील्डींग और डिकेंस के उपन्यासों तक थी और न फ्रांसीसी के बाल्ज़क और जोला के उपन्यासों तक। फिर रूसी उपन्यासकारों को पढ़ने और उनसे सीखने की बात कौन करे। उन्नीसवीं सदी में भारतीय उपन्यास की दुर्गति का यह एक बड़ा कारण था। क्यूबा के उपन्यासकार कार्पेतियर ने ठीक ही कहा है कि “उपन्यास एक प्रौढ़ विधा है। एशिया और अफ्रीका के कई देशों में जहां कविता की सदियों पुरानी परंपरा है, वहां अभी उपन्यास की ठीक ढंग से शुरुआत भी नहीं हुई है।” भारत की अनेक भाषाओं में यह स्थिति दिखाई देती है। निराला ने लिखा है कि “गद्य जीवन-संग्राम की भाषा है।” जहां जीवन-संग्राम की भाषा का पूरा विकास नहीं होगा, वहां जीवन-संग्राम की जटिलताओं को वयक्त करने वाले उपन्यास का विकास भी मुश्किल ही होगा। उपन्यास जीवन-संग्राम की जटिल समग्रता की कलात्मक पुनर्रचना है। इसलिए उसका विकास गद्य के विकास पर निर्भर होता है। उन्नीसवीं सदी में जब उपन्यास भारत में आया तब यहां की अनेक भाषाओं में गद्य अविकसित अवस्था में था। हिंदी में गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया था। एक ओर ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का विवाद चल रहा था, तो दूसरी ओर राजा लक्ष्मणप्रसाद सिंह की संस्कृतनिष्ठ हिंदी और राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद की फारसी मिश्रित हिंदी के समर्थकों के बीच बहस चल रही थी। इन विवादों और बहसों के बीच से हिंदी के लिए नई राह बनाने, उसका रूप स्थिर करने और हिंदी गद्य को जीवन-संग्राम की भाषा के रूप में विकसित करने का काम भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पूरा किया। तभी हिंदी में उपन्यास का उदय हुआ। इसीलिए हिंदी उपन्यास के आरंभिक दौर में अनुवाद और अनुकरण प्रचल रही। धीरे-धीरे जब हिंदी गद्य का विकास हुआ तो उपन्यासकारों ने अनुवादों से आरंभ किया और स्वयं उपन्यास हिंदी गद्य के विकास का एक प्रमुख साधन बन गया।

उपन्यास के उदयकाल की अभिशप्त स्थितियों के बीच एक नया जन्म हुआ, जो उपन्यास के लिए वरदान बन गयी। यह प्रकाशन, प्रकाशन और पत्र-पत्रिकाओं के रूप में सामने आयी। प्रगतिविक्ता ने उपन्यास के विकास का मार्ग बनाया था और इसी कारण उपन्यास का विकास संभव हुआ। यूरोपीय उपन्यास

के विकास में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका का गंभीर विश्लेषण हुआ है, लेकिन भारतीय उपन्यास या हिंदी उपन्यास के विकास में पत्र-पत्रिकाओं के योगदान का समुचित विवेचन अभी नहीं हुआ है। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उपन्यास के लिए आवश्यक गद्य का विकास हुआ। पत्रिकाओं में उपन्यासों के धारावाहिक प्रकाशन से वह पाठक समुदाय तैयार हुआ, जिसके अभाव में उपन्यास का अस्तित्व संकट में पड़ जाता। उपन्यासों के धारावाहिक प्रकाशन का असर उनकी अंतर्वस्तु और रूप भी पर दिखायी देता है। उन्नीसवीं सदी के मध्य से बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक विभिन्न भारतीय भाषाओं में जो महत्वपूर्ण उपन्यासकार आए उनकी अधिकांश रचनाएँ पहले पत्रिकाओं में छपीं। चाहे बंगला के बंकिमचंद्र हों या उड़िया के फकीर मोहन सेनापति, उर्दू के रतननाथ सरशार हों या मराठी के हरिनारायण आपटे या फिर हिंदी के देवकीनंदन खत्री ही क्यों न हों। इन सबके अधिकांश उपन्यास पहले पत्रिकाओं में धारावाहिक छपकर ही पाठकों के सामने आए। हिंदी में किशोरीलाल गोस्वामी ने तो उन्नीस सौ के आसपास 'उपन्यास' नाम का एक मासिक पत्र ही निकाल दिया, जो कुछ वर्षों तक चला। पत्रिकाओं ने उपन्यास के पाठक ही नहीं बनाए, उपन्यासों के प्रभाव से जन-मानस को झकझोर कर जगाने का भी प्रयास किया। बंकिमचंद्र के उपन्यास उनकी पत्रिका 'बंग दर्शन' में धारावाहित छपते थे। उपन्यास के कारण बंग दर्शन के पाठक पत्रिका के हर अंक की आतुर प्रतीक्षा करते थे। इसकी गवाही रवींद्रनाथ टैगोर के इस कथन में है, "बंग दर्शन आकाश में पुच्छल तारे की तरह था। 'विषवृक्ष' की सूर्यमुखी हर घर के परिवार का सदस्य बन गयी थी। पूरा बंगाल यह जानने के लिए बेचैन था कि उपन्यास में अब क्या हुआ और आगे क्या होगा। जिस दिन पत्रिका का अंक आता था, उस दिन हमारे कलकत्ते में दिन की दोपहर की गर्मी न थी।" जाहिर है बंकिम के उपन्यासों की अभूतपूर्व लोकप्रियता में बंग दर्शन की बहुत बड़ी भूमिका थी।

भारतीय भाषाओं में उपन्यास के विकास के आरंभ में उसी प्रकार आ खड़ी हुई। भारतीय साहित्य में आख्यान के जो विभिन्न रूप उससे उपन्यास का स्वरूप भिन्न था, इसलिए उचित नामकरण की समस्या थी। इस समस्या के समाधान के लिए कहीं परंपरा से

तो कहीं आविष्कार की प्रवृत्ति से। मराठी में उपन्यास के लिए 'कादंबरी' नाम स्वीकृत हुआ, तो गुजराती में उसे 'नवल कथा' कहा गया। 'नवल कथा' नाम में उपन्यास की नवीनता की ओर संकेत है और कथा की भारतीय परंपरा की ओर भी। हिंदी में लोकप्रिय 'उपन्यास' नाम बंगला से आया। बंगला में भूदेव मुखर्जी की पुस्तक 'ऐतिहासिक उपन्यास' (1862) में सबसे पहले इसका प्रयोग हुआ। बाद में बंकिम ने अपनी रचनाओं को उपन्यास कहा तो उनके उपन्यासों की लोकप्रियता के साथ यह नाम भी लोकप्रिय हुआ। हिंदी में उपन्यास का नाम ही नहीं, उसका रूप भी आरंभ में बंगला से ही आया। इधर जब से हिंदी नवजागरण की चर्चा का शोर बढ़ा है, तब से हिंदी की अनन्यत सिद्ध करने पर सारा जोर लगाया जा रहा है। इस प्रयत्न में भारतीय नवजागरण की अनेक सच्चाइयों को झुठलाने की कोशिश हो रही है। ऐसी स्थिति में कुछ लोगों को यह बात स्वीकार करने में कठिनाई होगी की उपन्यास बंगला से हिंदी में आया है। लेकिन यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। काशी से निकलने वाली मासिक पत्रिका सुदर्शन (जो 1900 से 1902 के अप्रैल तक चली) में छपे एक लेख 'उपन्यास और समालोचक' में पं. माधवप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि: "हिंदी में उपन्यास शब्द बंगला से आया है और अनुकरण प्रिय चतुर बंगाली ग्रंथकारों ने आधुनिक लक्षण से इसे अंग्रेजी के 'नावेल' शब्द का पर्याय बना दिया है।" माधवप्रसाद मिश्र उस ऐतिहासिक स्थिति के करीब थे और उससे पूरी तरह परिचित थे, इसलिए उन्हें सचाई को स्वीकार करने में कोई संकोच न था। इस सच्चाई को रामचंद्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया। रामचंद्र शुक्ल हिंदी नवजागरण के निर्माताओं में से एक थे, लेकिन वे आज के अनेक हिंदीवादियों की तरह संकीर्णतावाद के शिकार न थे। इसलिए उन्होंने 1935 ई. में लिखा था कि "हमारे आधुनिक हिंदी साहित्य में उपन्यास का नाम भी बंगला से आया है और उपन्यास का अंग्रेजी ढांचा भी। कथात्मक गद्य प्रबंध के लिए वास्तव में यह ढांचा बहुत ही उपयुक्त है।"

उपन्यास का अंग्रेजी ढांचा चाहे जितना उत्कृष्ट हो लेकिन वह एक औपनिवेशिक समाज के यथार्थ और आकांक्षा की अभिव्यक्ति के लिए पूरी तरह अनुकूल न था। अंग्रेजी उपन्यास का ढांचा, जिन विचारधारात्मक प्रवृत्तियों से बना था,

उनका यहां अभाव था। यहां उपन्यास ही नहीं, संपूर्ण साहित्य की रचना का संदर्भ और उद्देश्य यूरोप से भिन्न था। इसलिए भारत में उपन्यास जब अनुकरण के दलदल से निकलकर अपनी स्वतंत्र अस्मिता की खोज में लगा तो आख्यान की भारतीय परंपराओं की ओर मुड़ा। आरंभ में भारत की अधिकांश भाषाओं में विशेष रूप से बंगला, मराठी, गुजराती और हिंदी में संस्कृत की कथाओं और आख्यायिका के खूब अनुवाद हुए। 'कथासरित्सागर', 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश', 'बैताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी' और जातक कथाओं के प्रत्येक भाषा में एक से अधिक अनुवाद छपे। इन सबके साथ ही पुराणों और महाकाव्यों की कथाओं का पुनर्लेखन भी हुआ। लोक-कथाओं की ओर कथाकारों का ध्यान गया। उर्दू के कथाकारों ने फारसी और अरबी के दास्तानों, किस्सों और भ्रमसातनों को अपनाया। दूसरी भारतीय भाषाओं में भी अरबी, फारसी के दास्तानों के अनुवाद हुए। भारतीय उपन्यासकारों ने आख्यान की देशी परंपराओं को आत्मसात किया, उन्हें आधुनिक बनाया और उपन्यास के रूप को भारतीय चेतना के अनुरूप ढालने की कोशिश की। इसी प्रक्रिया में उपन्यास भारतीय जीवन की वास्तविकता और आकांक्षा की अभिव्यक्ति के अनुकूल बना।

भारतीय आख्यान परंपरा की एक विशिष्टता उसकी यूरोप से भिन्न काल-चेतना में थी। वह काल-चेतना उपन्यास की कथा की संरचना को ही प्रभावित नहीं करती है, उपन्यासकार की यथार्थ चेतना और पात्रों की मानसिक बनावट को भी अनुशासित करती है। आरंभिक भारतीय उपन्यासों में मिथकीय काल-चेतना ऐतिहासिक काल चेतना से अधिक सक्रिय दिखाई देती है। उन्नीसवीं शताब्दी के महत्वपूर्ण उपन्यासकार वे ही हैं, जिनके उपन्यासों में भारतीय कथा-परंपरा और उपन्यास के यूरोपीय ढांचे में सर्जनात्मक तनाव है, या फिर भारतीय कथा-कौशल का कुशल प्रयोग। बंकिमचंद्र और हरिनारायण आष्टे के उपन्यासों के रचना-विधान में संस्कृत की कथा-शैली और वर्णन पद्धति का प्रयोग है। उर्दू में मिर्जा हादी रूसवा के उपन्यास 'उमराव जान अदा' (1899) पहले लिखे गये अधिकांश उपन्यासों में दास्तान और किस्सागोई के शिल्प का थोड़े हेर-फेर के साथ प्रयोग है। लोककथा के तत्वों का कलात्मक उपयोग कीर्ति मोहन सेनापति, प्रेमचंद्र, विभूतिभूषण बनर्जी, फणीश्वरनाथ 'रेणु' और जलाल पटेल के उपन्यासों में है।



इतिहासकार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने उन्नीस सौ दो के अपने निबन्ध में लिखा है कि “प्रत्येक राष्ट्र को कभी न कभी आपातकालीन संकटों का सामना करना पड़ता है। पराधीन से स्वाधीन होते समय, जुल्म और अत्याचारों की शृंखलाओं को तोड़ते समय, सामाजिक समस्याओं का समाधान खोजते समय, हर राष्ट्र को प्रयत्नों की पराकष्टा करनी पड़ती है। जब ऐसे प्रयत्न जारी होते हैं, तब यह बहुत जरूरी हो जाता है कि जब तक लक्ष्य सिद्ध नहीं होता तब तक समाज के आवेश और जोश को बनाए रखने, समाज के विचारों को सही दिशा देने और वांछित की प्राप्ति की आशा समाज के मन में दृढ़ बनाने के लिए सरस्वती के वरद पुत्र समय-समय पर राष्ट्र में जन्म पाते हैं। अपनी प्रासादिक शैली में राष्ट्रीय विचारों और भावों की आवेशयुक्त अभिव्यक्ति का काम वे कलम के जादूगर और सिपाही करते हैं।”<sup>3</sup> यही वह ऐतिहासिक दृष्टि है, जो भारतीय उपन्यास ही नहीं नवजागरण कालीन संपूर्ण साहित्य के राजनीतिक और सामाजिक अर्थ की व्याख्या का मार्गदर्शन कर सकती है। भारतीय उपन्यास की स्वतन्त्र अस्मिता उन्हीं उपन्यासों में विकसित होती दिखायी देती है, जहां उपन्यास भारतीय समाज के स्वत्व की खोज और पहचान के व्यापक राष्ट्रीय अभियान का कलात्मक माध्यम बनता है। उन्हीं उपन्यासों में उस समय के भारतीय इतिहास की आवाज सुनायी पड़ती है।

भारतीय समाज के स्वत्व की खोज के अभियान में जितनी व्यापकता थी उतनी ही विविधता भी थी, इसलिए भारतीय उपन्यासों में इतिहास के स्वरों की अनेकता मिलती है। मीनाक्षी मुखर्जी ने ठीक ही लिखा है कि आरम्भिक भारतीय उपन्यासों में तीन मुख्य रचनात्मक प्रवृत्तियां हैं। एक प्रवृत्ति समाजसुधार और उपदेश की है। दूसरी प्रवृत्ति में इतिहास और फैंटेसी के माध्यम से एक नैतिक चेतना के विकास का प्रयास है। तीसरी प्रवृत्ति समकालीन भारतीय समाज की वास्तविकताओं के यथार्थपरक चित्रण में मिलती है।<sup>4</sup> हिन्दी में ‘परीक्षामुख’ जैसे उपन्यासों ने पहली प्रवृत्ति है। दूसरी प्रवृत्ति के एक पक्ष के

महत्वपूर्ण उपन्यासकार बंगला के बंकिमचन्द हैं तो दूसरा पक्ष देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में मिलता है। बंकिम के यहां इतिहास और मिथक का रचनात्मक उपयोग है तो देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में फैंटेसी का प्रयोग। भारतीय उपन्यास के इतिहास में तीसरी प्रवृत्ति के पहले महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं उड़िया के फकीर मोहन सेनापति। आगे चलकर यही प्रवृत्ति अधिक उन्नत रूप में प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलती है। इस तरह भारतीय उपन्यास राष्ट्रीय चेतना के निर्माण का माध्यम बना। वह कहीं राष्ट्रीय जागरण का अनुगामी था तो कहीं राष्ट्रीय जागरण का अग्रदूत भी था।

फ्रांस की मादाम स्तेल ने लिखा है कि उन्हीं समाजों में उपन्यास का विकास होता है जहां स्त्रियों का स्थान ऊंचा हो और व्यक्तिगत जिन्दगी में लोगों की गहरी दिलचस्पी हो। ऐसे ही समाज में उपन्यास वैयक्तिक अनुभवों का माध्यम और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का वाहक बनता है। भारत में उपन्यास का जब उदय हुआ तब भारतीय समाज में स्त्री रूढ़ियों में जकड़ी, आदर्शों से घिरी और यातनाओं में जी रही थी, इसीलिए आरम्भिक भारतीय उपन्यासों में वह कहीं भारतीय और पाश्चात्य मूल्यों के द्वंद्व की रणभूमि बनी दिखायी देती है, तो कहीं आदर्श की प्रतिमा और वीरांगना के रूप में चित्रित हुई है। वह कहीं पतिता है तो कहीं पतिव्रता। कहीं-कहीं उपन्यासकार की पुरानी मूल्य चेतना और नई सुधारवादी दृष्टि के बीच द्वन्द्व भी स्त्री के माध्यम से व्यक्त हुआ है। यह स्थिति बंगला के बंकिम और शरत, हिन्दी के प्रेमचंद और गुजराती के गोवर्धनराम त्रिपाठी के उपन्यासों में दिखायी देती है। अनेक उपन्यासकारों ने भारतीय परिवार में स्त्री के उत्पीड़न की करुण कथा कही है। हरिनारायण आप्टे के यहां वह करुण क्रांतिकारी साबित हुई क्योंकि उससे महाराष्ट्र में स्त्री-जीवन में परिवर्तन की चेतना पैदा हुई। शरत के उपन्यासों में भी नारी के प्रति गहरी सहानुभूति है। वहां स्त्री भ्रामक मूल्यों और रूढ़ियों को तोड़कर विद्रोह करती है। जिस पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री के अस्तित्व का रूप और उसके व्यक्तित्व की पहचान का आधार पुरुष के साथ उसका संबंध हो वहां स्त्री की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और उसके निजी अनुभवों के लिए उपन्यास में कौसी और कितनी

इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने उन्नीस सौ दो के अपने निबन्ध में लिखा है कि “प्रत्येक राष्ट्र को कभी न कभी आपातकालीन संकटों का सामना करना पड़ता है। पराधीन से स्वाधीन होते समय, जुल्म और अत्याचारों की श्रृंखलाओं को तोड़ते समय, सामाजिक समस्याओं का समाधान खोजते समय, हर राष्ट्र को प्रयत्नों की पराकष्टा करनी पड़ती है। जब ऐसे प्रयत्न जारी होते हैं, तब यह बहुत जरूरी हो जाता है कि जब तक लक्ष्य सिद्ध नहीं होता तब तक समाज के आवेश और जोश को बनाए रखने, समाज के विचारों को सही दिशा देने और वांछित की प्राप्ति की आशा समाज के मन में दृढ़ बनाने के लिए सरस्वती के वरद् पुत्र समय-समय पर राष्ट्र में जन्म पाते हैं। अपनी प्रासादिक शैली में राष्ट्रीय विचारों और भावों की आवेशयुक्त अभिव्यक्ति का काम वे कलम के जादूगर और सिपाही करते हैं।”<sup>3</sup> यही वह ऐतिहासिक दृष्टि है, जो भारतीय उपन्यास ही नहीं नवजागरण कालीन संपूर्ण साहित्य के राजनीतिक और सामाजिक अर्थ की व्याख्या का मार्गदर्शन कर सकती है। भारतीय उपन्यास की स्वतन्त्र अस्मिता उन्हीं उपन्यासों में विकसित होती दिखायी देती है, जहां उपन्यास भारतीय समाज के स्वत्व की खोज और पहचान के व्यापक राष्ट्रीय अभियान का कलात्मक माध्यम बनता है। उन्हीं उपन्यासों में उस समय के भारतीय इतिहास की आवाज सुनायी पड़ती है।

भारतीय समाज के स्वत्व की खोज के अभियान में जितनी व्यापकता थी उतनी ही विविधता भी थी, इसलिए भारतीय उपन्यासों में इतिहास के स्वरो की अनेकता मिलती है। मीनाक्षी मुखर्जी ने ठीक ही लिखा है कि आरम्भिक भारतीय उपन्यासों में तीन मुख्य रचनात्मक प्रवृत्तियां हैं। एक प्रवृत्ति समाजसुधार और उपदेश की है। दूसरी प्रवृत्ति में इतिहास और फैंटेसी के माध्यम से एक नैतिक चेतना के विकास का प्रयास है। तीसरी प्रवृत्ति समकालीन भारतीय समाज की वास्तविकताओं के यथार्थपरक चित्रण में मिलती है।<sup>4</sup> हिन्दी में ‘परीक्षागुरु’ जैसे उपन्यासों में पहली प्रवृत्ति है। दूसरी प्रवृत्ति के एक पक्ष के

3. आलोचना 84, जनवरी-मार्च 1988, पृ. 20

4. Meenakshi Mukerjee, Realism and Reality, P. 16

महत्वपूर्ण उपन्यासकार बंगला के बंकिमचन्द्र हैं तो दूसरा पक्ष देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में मिलता है। बंकिम के यहां इतिहास और मिथक का रचनात्मक उपयोग है तो देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में फैंटेसी का प्रयोग। भारतीय उपन्यास के इतिहास में तीसरी प्रवृत्ति के पहले महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं उड़िया के फकीर मोहन सेनापति। आगे चलकर यही प्रवृत्ति अधिक उन्नत रूप में प्रेमचन्द्र के उपन्यासों में मिलती है। इस तरह भारतीय उपन्यास राष्ट्रीय चेतना के निर्माण का माध्यम बना। वह कहीं राष्ट्रीय जागरण का अनुगामी था तो कहीं राष्ट्रीय जागरण का अग्रदूत भी था।

फ्रांस की मादाम स्तेल ने लिखा है कि उन्हीं समाजों में उपन्यास का विकास होता है जहां स्त्रियों का स्थान ऊंचा हो और व्यक्तिगत जिन्दगी में लोगों की गहरी दिलचस्पी हो। ऐसे ही समाज में उपन्यास वैयक्तिक अनुभवों का माध्यम और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का वाहक बनता है। भारत में उपन्यास का जब उदय हुआ तब भारतीय समाज में स्त्री रूढ़ियों में जकड़ी, आदर्शों से घिरी और यातनाओं में जी रही थी, इसीलिए आरम्भिक भारतीय उपन्यासों में वह कहीं भारतीय और पाश्चात्य मूल्यों के द्वंद्व की रणभूमि बनी दिखायी देती है, तो कहीं आदर्श की प्रतिमा और वीरांगना के रूप में चित्रित हुई है। वह कहीं पतिता है तो कहीं पतिव्रता। कहीं-कहीं उपन्यासकार की पुरानी मूल्य चेतना और नई सुधारवादी दृष्टि के बीच द्वन्द्व भी स्त्री के माध्यम से व्यक्त हुआ है। यह स्थिति बंगला के बंकिम और शरत, हिन्दी के प्रेमचंद और गुजराती के गोवर्धनराम त्रिपाठी के उपन्यासों में दिखायी देती है। अनेक उपन्यासकारों ने भारतीय परिवार में स्त्री के उत्पीड़न की करुण कथा कही है। हरिनारायण आप्टे के यहां वह करुण क्रांतिकारी साबित हुई क्योंकि उससे महाराष्ट्र में स्त्री-जीवन में परिवर्तन की चेतना पैदा हुई। शरत के उपन्यासों में भी नारी के प्रति गहरी सहानुभूति है। वहां स्त्री भ्रामक मूल्यों और रूढ़ियों को तोड़कर विद्रोह करती है। जिस पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री के अस्तित्व का रूप और उसके व्यक्तित्व की पहचान का आधार पुरुष के साथ उसका संबंध हो वहां स्त्री की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और उसके निजी अनुभवों के लिए उपन्यास में कौसी और कितनी जगह होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अधिकांश आरंभिक

भारतीय उपन्यासों में स्त्री सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं और आकांक्षाओं का केवल माध्यम ही है। उन्नीसवीं सदी के अंत में लिखा गया 'उमराव जान अदा' उस समय का अकेला ऐसा उपन्यास है, जिसे स्त्री-जीवन की यथार्थवादी रचना कहा जा सकता है। इस उपन्यास की यथार्थपरकता का एक कारण उसका रचना-विधान भी है। उमराव जान की कहानी उसी की जुबानी कही गई है। इस तरह वह स्त्री की दृष्टि से देखी गयी स्त्री की जिंदगी की कथा बन गयी है। उपन्यास में उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दिनों के लखनऊ के सीमांती समाज में एक वेश्या की जिन्दगी की वास्तविक स्थिति का यथार्थपरक चित्रण है। उसमें स्त्री के प्रति गहरी मानवीय संवेदनशीलता भी है। बाद के दिनों में भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति के बदलने और उसके प्रति दृष्टिकोण के परिवर्तन के कारण स्त्री के अस्तित्व, व्यक्तित्व, अनुभवों और आकांक्षाओं की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरत, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और नागार्जुन के उपन्यासों में हुई।

कुछ लोग पश्चिम के आधुनिक साहित्य में स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद की विकास-प्रक्रिया को ध्यान में रखकर जब आधुनिक भारतीय साहित्य में इन प्रवृत्तियों की विकास-प्रक्रिया को समझने की कोशिश करते हैं, तब वे यह देखकर चकित होते हैं कि पश्चिम में स्वच्छन्दतावाद के पश्चात यथार्थवाद आया था, लेकिन आधुनिक भारतीय साहित्य में इन दोनों प्रवृत्तियों का साथ-साथ विकास मिलता है। हिन्दी में छायावाद के समानान्तर प्रेमचंद का कथा साहित्य है। यही नहीं, यहां तो कभी-कभी एक ही लेखक की दो रचनाओं में और कहीं एक ही रचना में रोमेंटिक और यथार्थवादी प्रवृत्तियां साथ-साथ मिल जाती हैं। हिन्दी के कुछ आलोचकों ने इस असमंजस से उबरने के लिए जो समाधान खोजा है, वह समस्या को सुलझाने के बदले उलझने ही बढ़ाता है। एक ओर हंसराज रहबर हैं, जो भारतीय साहित्य में यथार्थवाद के विकास के मूल में स्वाधीनता आंदोलन की अभिव्यक्ति देखते हैं। यह दृष्टिकोण सही है, लेकिन वे स्वच्छन्दतावाद का स्वाधीनता आंदोलन से सम्बन्ध नहीं समझ पाते, इसलिए छायावाद की आलोचना करते हैं। दूसरी ओर डा. रामविलास शर्मा हैं, जो यथार्थवाद को ब्रह्म की तरह सर्वव्यापी मानकर स्वच्छन्दतावाद में भी उसी

का प्रसार देखते हैं। विकास-प्रक्रियाओं के अन्तर के मूल में ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों का अन्तर है। भारत के औपनिवेशिक समाज के साहित्य का स्वरूप जनजीवन की वास्तविकता और आकांक्षा दोनों से निर्मित हो रहा था, उसमें दोनों की अभिव्यक्ति भी हो रही थी। गुलामी, शोषण और दमन की वास्तविकता के साथ-साथ स्वाधीनता की आकांक्षा संघर्ष के लिए प्रेरित कर रही थी। यथार्थवाद भारतीय समाज की वास्तविकताओं को व्यक्त कर रहा था तो स्वच्छंदतावाद में मुक्ति की आकांक्षा प्रकट हो रही थी, इसीलिए भारतीय साहित्य में यथार्थवाद के साथ-साथ स्वच्छंदतावाद विकसित हो रहा था। यह सही है कि उपन्यास में यथार्थवाद की प्रवृत्ति प्रधान थी और कविता में स्वच्छंदतावाद की लेकिन कहीं-कहीं उपन्यास में स्वच्छंदतावाद और कविता में यथार्थवाद की प्रवृत्ति भी क्रियाशील थी। बंगला, मराठी और हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में यथार्थवाद के साथ-साथ स्वच्छंदतावाद उपस्थित मिलता है। इन उपन्यासों में पराधीनता के यथार्थ और स्वाधीनता की आकांक्षा का रचनात्मक संगम है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ कहीं अतीत के संघर्षों की स्मृति के माध्यम से व्यक्त हुई हैं तो कहीं देश-काल निरपेक्ष फैंटेसी लोक में। यथार्थवाद वर्तमान से जुड़ा होता है, लेकिन स्वच्छंदतावाद की गति अतीत और भविष्य दोनों में होती है। भारतीय उपन्यासकार राष्ट्रीय स्वत्व की खोज, पहचान और विकास के लिए अतीत, वर्तमान और भविष्य में से किसी को भी वर्जित प्रदेश नहीं मानते। ऐसा केवल भारतीय उपन्यास में ही नहीं हुआ। अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के उपन्यासों में भी यह स्थिति मिलती है।

भारतीय उपन्यास का स्वतन्त्र रूप तब विकसित हुआ जब उपन्यास रचना के केन्द्र में भारतीय किसान जीवन आया, तभी वह यथार्थवाद विकसित हुआ जो राष्ट्रीय जागरण का अभिन्न अंग था। किसान जीवन से जुड़कर ही भारतीय उपन्यास की सच्ची भारतीयता विकसित हुई और उपन्यास राष्ट्रीय जीवन की महागाथा का प्रतिनिधि साहित्य रूप बना। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किसान भारतीय समाज का मेरुदंड पहले भी था और आज भी है। किसान भारतीय चेतना का मूर्तरूप और औपनिवेशिक व्यवस्था का सर्वाधिक शोषित और उत्पीड़ित वर्ग भी था। उस समय भारतीय किसान एक

ओर साम्राज्यवादी शोषण का शिकार था और दूसरी ओर सामंती लूट का । किसान जीवन से उपन्यास के जुड़ने का अर्थ था भारतीय समाज की समग्रता के केन्द्र से जुड़कर उसकी इतिहास-प्रक्रिया में सक्रिय विभिन्न शक्तियों के संबंधों को पहचानना। उस समय किसान जीवन से जुड़कर ही साम्राज्यवाद और सामंतवाद के गठजोड़ को भी समझना संभव था। यही कारण है कि उपन्यास में जब किसान जीवन आया तो भारतीय उपन्यास राष्ट्रीय भावना और चेतना का अभिव्यंजक बना। किसान जीवन से जुड़ने के कारण भारतीय उपन्यास की अंतर्वस्तु ही नहीं बदली, उसके रूप में भी परिवर्तन हुआ। बंकिमचंद्र के उपन्यासों की रचना-पद्धति और भाषा में भारतीय किसान जीवन का उपन्यास लिखना संभव न था। भारतीय उपन्यास में किसान आया तो अपने साथ वह अपनी संस्कृति, भाषा और कथन भंगिमाएं भी लेकर आया, जिनसे उपन्यास का नया यथार्थवादी रूप निखरा। तभी भारतीय उपन्यास जन-जीवन के इतिहास का आख्यान बना।

भारतीय उपन्यास को किसान जीवन की महागाथा बनाने की परंपरा का आरंभ उड़िया के कथाकार फकीर मोहन सेनापति (1843-1918) के उपन्यास 'छमाड़ आठ गुंठ' (1897) से होता है। उड़िया के समालोचक मायाधर मानसिंह ने यह सवाल ठीक ही पूछा है कि फकीर मोहन से पहले किस भारतीय लेखक ने गांव के फटेहाल और मूर्ख लोगों को अपनी रचनाओं का नायक बनाया है? उनकी रचनाओं के सबसे जीवंत पात्र नाई, जुलाहे, खेतिहर मजदूर और अछूत हैं। उन्होंने साहित्य की दुनिया में आम आदमी और औरत को महत्व प्रदान किया। इस उपन्यास के साथ उड़िया में उपन्यास का उदय हुआ और भारतीय उपन्यास में किसान-जीवन के यथार्थवादी उपन्यास की परंपरा का सूत्रपात भी हुआ। 'छमाड़ आठ गुंठ' में गरीबों और शोषितों से गहरी सहानुभूति है और जमींदार तथा नए धनिकों से तीखी घृणा है। शोषकों पर जगह-जगह आक्रमण भी है। उपन्यास में उस प्रक्रिया की ओर संकेत भी है जिसमें गरीबी आम आदमी को अमानवीय और क्रूर बना देती है। 'छमाड़ आठ गुंठ' में जहां-तहां

भाग्यवाद की झलक भी है, जिसकी कुछ लोगों ने आलोचना की है लेकिन यह भारतीय किसान की ऐसी विशेषता है, जिसकी उपेक्षा प्रेमचंद भी नहीं कर पाए। उन्नीसवीं सदी के अंत में उपनिवेशवादी सत्ता के सामने और भारतीय सामंतवाद के सामने भी असहाय किसान का जीवन में भाग्यवादी होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मायाधर मानसिंह ने यह भी लिखा है कि फकीर मोहन सेनापति के चार प्रमुख उपन्यासों और अनेक छोटी-बड़ी कहानियों में उड़ीसा के जातीय जीवन की दो सदियों का प्रामाणिक परिचय प्राप्त होता है। उनके पाठक समाज के हर वर्ग के लोगों को उनके उपन्यासों में पाते हैं। उनके कथा साहित्य में राजाओं से लेकर कूड़ा बीनने वाले और आदर्शवादी नायक-नायिकाओं से लेकर गुंडे और बदमाश तक मौजूद हैं। उनके मन में गांव के प्रति किसी प्रकार का रोमांटिक भ्रम नहीं था। फकीर मोहन सेनापति की कथादृष्टि की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने उड़ीसा के जातीय जीवन की कथा कहते हुए भारत के राष्ट्रीय जीवन के वर्तमान और भविष्य को भी अपनी दृष्टि में रखा है। 'छमाड़ आठ गुंठ' में गांव के एक जोहड़ के दृश्य का यह वर्णन देखिए, "एक जोड़ी या कुछ अधिक सफेद बगुले इस जोहड़ के किनारे दलदल में बैठकर छोटे-मोटे शिकार के लिए सुबह से शाम तक विफल कोशिश करते रहते हैं। पर देखो तो, पता नहीं कहां से उड़कर कुछ जलकाक वहां आ जाते हैं। जोहड़ के तल में गोता लगाते हैं और बड़ी मछलियां खाकर संतुष्ट होकर जल्दी ही वापिस चले जाते हैं। जलकाक को जोहड़ के किनारे धूप में संतुष्ट भाव से उसी तरह पंख फैलाए हुए देखा जा सकता है, जैसे पार्टी के समय मेम साहिब अपने इवनिंग गाउन में नजर आती हैं। हे भारत के भोले बगुले देखो तो अंग्रेज जलकाक दूस्-दराज के समुद्रों में उड़ते हुए हमारी धरती पर उतरते हैं तथा प्रसन्न भाव से वापिस चले जाते हैं। उनकी खाली जेबों में बढ़िया मछलियां भी होती हैं। जबकि तुम मूर्खों की तरह जोहड़ के किनारे के वृक्षों पर बैठे रहते हो और सारे दिन की कड़ी मेहनत के बाद भी भरपेट भोजन नहीं बटोर पाते। अस्तित्व की यह कठोर लड़ाई जारी है।"



1897 में लिखे इस अंश में लेखक की राष्ट्रीय चेतना, राजनीतिक समझ और दूरदर्शिता की व्याख्या की जरूरत नहीं है। देश की दुर्दशा और साम्राज्यवादी शोषण की प्रक्रिया के ऐसे मुखर बिंब बाद के उपन्यासों में भी कम ही मिलते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यथार्थवादी कला में केवल प्रतिनिधिकता की पद्धति ही नहीं होती, उसमें प्रतीकात्मक पद्धति का भी प्रयोग हो सकता है और बिंबों, प्रतीकों तथा संकेतों से भी काम लिया जा सकता है। उपन्यास की भाषा में लाक्षणिकता और सांकेतिकता का यह दुर्लभ उदाहरण है। इस कथन से जाहिर है कि यथार्थवादी कलाकार केवल वर्तमान का चित्रण नहीं करता, वह भविष्य-द्रष्टा भी हो सकता है।

दुनिया के अनेक देशों के इतिहास में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि कई बार भाषा की रक्षा और उसके विकास के लिए संघर्ष, जातीय अस्मिता की रक्षा और विकास का संघर्ष बन जाता है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास से भी इस बात की पुष्टि होती है। लेकिन अपनी भाषा और जातीय अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्ष में उपन्यास के अमोघ अस्त्र के रूप में प्रयोग के उदाहरण बहुत नहीं मिलते। ऐसा ही एक दुर्लभ उदाहरण है फकीर मोहन सेनापति का उपन्यास 'छमाड़ आठ गुंठ' जिसने उड़िया भाषा के अस्तित्व की रक्षा का काम किया। उन्नीसवीं सदी के बंगाली भद्र लोक की ओर से आवाज उठी थी कि उड़िया कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, वह बंगला की एक बोली है इसलिए स्कूलों में उसकी पढ़ाई बंद कर दी जाए। इसका उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे उड़िया का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाए। फकीर मोहन सेनापति ने इस षड्यंत्र का जमकर विरोध किया और बंगला से उड़िया के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण रखा वह अकाट्य साबित हुआ। उस समय बंगला और उड़िया में साहित्यिक भाषा के दो रूपों को लेकर बहस चल रही थी। कुछ लोग साधु भाषा अर्थात् संस्कृतनिष्ठ भाषा के प्रयोग का समर्थन कर रहे थे और कुछ दूसरे चलित भाषा या चलती भाषा अर्थात् बोलचाल की भाषा में साहित्य लिखने का आग्रह कर रहे थे। बंगला और उड़िया की साधु भाषाओं में कोई विशेष अंतर न था। लेकिन दोनों की चलती भाषाएं एक-दूसरे से एकदम अलग थीं। फकीर मोहन सेनापति ने बोलचाल की

गंवारू चलती उड़िया में 'छमाड़ आठ गुंठ' जैसा उपन्यास लिखकर सिद्ध कर दिया कि बंगला से उड़िया एकदम अलग और स्वतंत्र है। उन्होंने बाद के अपने दूसरे उपन्यासों और कहानियों में भी इसी चलती भाषा का प्रयोग किया। इस तरह उपन्यास एक जातीय भाषा और जातीय अस्मिता का रक्षक बना। यह काम केवल उपन्यास ही पूरा कर सकता था क्योंकि उपन्यास में ही ठेठ भाषा का पूरा ठाट आ सकता है और उसकी बोलियों की अनगिनत भंगिमाओं और मुहावरों को भी लाया जा सकता है। उपन्यास की भाषा की जीवंतता और विविधता का दूसरा उदाहरण फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' में मिल सकता है।

### संदर्भ-

1. D.P. Mukerji - Diversitise. P. 304
2. Ranjit Guha,  
An Indian Historiography of India:  
A Nineteenth Century Agenda and its implications. P. 17-18
3. आलोचना 84, जनवरी-मार्च 1988, पृ. 20
4. Meenakshi Mukerjee, Realism and Reality. P. 16
5. मायाधर मानसिंह, फकीर मोहन सेनापति, पृ. 69
6. वही, पृ. 58